

# बिज़नेस स्टैंडर्ड

Date: 03-01-19

## ग्रांड ट्रंक रोड के रास्ते राजमार्ग का विकास

मौर्य साम्राज्य के समय एक सड़क तक्षशिला से लेकर पाटलिपुत्र के बीच बनी थी। उसकी कभी भी बराबरी नहीं की जा सकी लेकिन जीटी रोड उसके आसपास जरूर है।

विवेक देवरॉय, (लेखक प्रधानमंत्री की आर्थिक सलाहकार परिषद के चेयरमैन हैं।)



ब्रिटिश गजेटियर से पता चलता है कि अंग्रेजों के पहले सड़कों की हालत बहुत खराब थी। वैसे हम यह जानते हैं कि पहले भी सड़कें बनती रही हैं। इसमें कोई विरोधाभास नहीं है। आजादी के बाद 1965 में जारी वाराणसी जिला गजेटियर से पता चलता है कि सड़कों को लेकर हुआ क्या था? सड़क के रास्ते संचार आधा-अधूरा होते हुए भी अतीत में पूरी तरह गुम नहीं था। मौर्य काल में पाटलिपुत्र से वाराणसी के रास्ते पश्चिमोत्तर भारत और

अरब सागर तक जाने वाला एक मार्ग बनाया गया था। (यह नहीं मालूम नहीं है कि इस सड़क का निर्माण कब हुआ था?) लगता है कि शेरशाह के समय तक यह सड़क महज एक रास्ता भर रह गई थी। कहा जाता है कि शेरशाह ने इस मार्ग के आसपास कई चरणों में सरायों का भी निर्माण कराया था।

थोड़े-बहुत बदलाव को छोड़ दें तो ग्रांड ट्रंक रोड ने मौर्य काल वाले मार्ग का ही अनुसरण किया है। अक्टूबर 1788 में वाराणसी के ब्रिटिश रेजिडेंट जोनाथन डंकन ने लिखा था कि 'शहर के भीतर की सड़कों की भी हालत काफी खस्ता थी। उसके अगले साल राजस्व संग्राहकों को अपने-अपने क्षेत्र में मौजूद सड़कों एवं राजमार्गों की मरम्मत करने का आदेश दिया गया। इसके लिए कोई उपकरण नहीं लगाया गया था लेकिन अपने इलाकों में सड़क की मरम्मत के लिए मजदूरों का इंतजाम स्थानीय जमींदारों को करना था। स्थायी बंदोबस्त, 1795 के मुताबिक जमींदारों को मजदूरों का इंतजाम करने के अलावा अपने क्षेत्र से होकर गुजरने वाली सड़कों की मरम्मत पर होने वाला खर्च भी वहन करना था।' लेकिन सड़कों की मरम्मत एवं देखभाल का काम धराशायी हो गया।

उत्तर भारत से गुजरने वाली एक सड़क का नाम संभवतः 'उत्तरापथ' था। कभी-कभार इस शब्दावली का इस्तेमाल एक भौगोलिक क्षेत्र के लिए तो कभी एक खास सड़क के लिए होता था। ऐसे वक्तव्य हैं कि पाणिनी ने व्याकरण पर लिखी अपनी किताब अष्टाध्यायी में उत्तरापथ के इर्दगिर्द के साम्राज्यों का जिक्र किया था। लेकिन असल में ऐसा नहीं है। श्रीश चंद्र वसु ने 1897 में इस पुस्तक के अनुवाद में कहा है: उत्तरापथ शब्द के साथ आने वाले शब्दों का मतलब यह है कि 'उस रास्ते से जाने वाले व्यक्ति' और 'जिस तरह कहा जा रहा है'? असल में, उत्तरापथ के दो बड़े संपर्क मार्ग थे: उत्तरी मार्ग लाहौर से जालंधर, सहारनपुर, बिजनौर और गोरखपुर होते हुए बिहार और बंगाल तक जाता था जबकि दक्षिणी मार्ग लाहौर से बठिंडा, दिल्ली, हस्तिनापुर, कानपुर, लखनऊ, वाराणसी और इलाहाबाद होते हुए पाटलिपुत्र तक जाता था।

कौटिल्य ने अपने ग्रंथ अर्थशास्त्र में विभिन्न तरह की सड़कों का जिक्र किया है और वह कम जोखिम होने से जलमार्गों के बजाय सड़कों को प्राथमिकता देते हैं। कौटिल्य का कहना है कि 'सड़कों की देखभाल राजा की जिम्मेदारी होती है। राजा

खनन कार्य और विनिर्माण कराएगा, जंगली लकड़ी और वनों का दोहन करेगा, मवेशियों की देखभाल एवं बिक्री की सुविधाएं मुहैया कराएगा, जल एवं जमीन के रास्ते आवागमन मार्गों का निर्माण करेगा और व्यावसायिक कस्बे बसाएगा।' (शामशास्त्री का अनुवाद)। सड़क को नुकसान पहुंचाने का सवाल है तो 'गलियों में गंदगी फैलाने वाले व्यक्ति पर एक पण के आठवें भाग का दंड लगेगा, सड़कों पर कीचड़ और जल जमाव के जिम्मेदार लोगों पर चौथाई पण का दंड लगेगा और राजमार्ग पर ऐसे अपराध करने वालों को दोगुने दंड का भागी बनना पड़ेगा।'

राष्ट्रीय राजमार्गों की संख्या का निर्धारण इन दिनों अलग ढंग से होता है। उत्तर और दक्षिण भारत को जोड़ने वाले सभी राजमार्गों की संख्या सम होती है। इन राजमार्गों की गिनती पूर्वी भारत से शुरू होती है और पश्चिमी भारत की तरफ बढ़ते जाने पर संख्या बढ़ती जाती है। मौर्य साम्राज्य के समय भी सड़कों का निर्माण हुआ था जिनमें से एक सड़क तो तक्षशिला से पाटलिपुत्र और उससे भी आगे तक जाती थी। इसकी बराबरी करने वाली सड़क तो नहीं हो सकती है लेकिन जीटी रोड काफी हद तक ऐसी ही है। हालांकि जीटी रोड भी पूरी तरह शेरशाह सूरी की बनाई सड़क जैसी नहीं है। साफ कहें तो जीटी रोड में बांग्लादेश, पाकिस्तान और अफगानिस्तान तक जाने वाली सड़कें भी शामिल रही हैं। मुझे संदेह है कि आज शायद ही लोगों ने रुडयार्ड किपलिंग की कविता 'रुट मार्चिन' पढ़ी होगी। किपलिंग की इस कविता का आशय है, 'हम बारिश का मौसम बीतने के बाद और क्रिसमस आने के पहले भारत के मैदानों से होकर गुजर रहे हैं। गांड ट्रंक रोड के रास्ते में दिखने वाले मंदिर तारीफ के लायक हैं और जगह-जगह मोर एवं बंदर नजर आते हैं। गांड ट्रंक की पुरानी सड़क राइफल लटकाने वाली पट्टी की तरह दिखती है।' मुझे लगा था कि पुराने गजेटियरों को खंगालने से यह पता चल जाएगा कि इस सड़क का नाम गांड ट्रंक रोड कब और कैसे रखा गया था? लेकिन इसमें मेरी किस्मत ने साथ नहीं दिया।

'राष्ट्रीय राजमार्गों की संख्या का निर्धारण अब अलग तरह से होता है। पूर्व से पश्चिम की तरफ जाने वाले सभी राजमार्गों की विषम संख्या दी गई है। यह संख्या उत्तर भारत से शुरू होकर दक्षिण भारत में बढ़ती जाती है। दूसरे शब्दों में, अक्षांश जितना अधिक होगा, राष्ट्रीय राजमार्ग संख्या उतनी कम होगी और छोटा अक्षांश होने पर राजमार्ग संख्या बड़ी होगी। मसलन, जम्मू कश्मीर में एनएच-1 है जबकि तमिलनाडु में एनएच-87 है। इसी तरह उत्तर-दक्षिण के सभी राजमार्गों की संख्या अब सम होती है। पूर्व से शुरू होकर पश्चिम की तरफ बढ़ने पर संख्या बढ़ती जाती है। दूसरे शब्दों में, देशांतर बड़ा होने पर एनएच संख्या छोटी होगी और छोटे देशांतर वाली जगहों से गुजरने वाले एनएच की संख्या बड़ी होती है। मसलन, पूर्वोत्तर भारत में एनएच-2 है तो राजस्थान और गुजरात में एनएच-68 है।'

राजमार्ग संख्या की नई व्यवस्था अपनाए जाने के बाद जीटी रोड का समूचा मार्ग एनएच-12 (डालखोला से बोकखाली), एनएच-27 के कुछ हिस्से (पूर्णिया-पटना खंड), एनएच-19 (पटना से आगरा), एनएच-44 के कुछ हिस्से (आगरा से नई दिल्ली, सोनीपत, अंबाला और लुधियाना के रास्ते जालंधर) और एनएच-3 (जालंधर से अटारी तक का हिस्सा) से होकर गुजरता है। इनमें से सबसे अहम संपर्क मार्ग एनएच-19 है। राजमार्ग संख्या तय करने की पुरानी व्यवस्था के तहत इसे एनएच-2 कहा जाता। एनएच-19 को ऐसे राजमार्ग के तौर पर परिभाषित किया गया है जो दिल्ली से शुरू होकर मथुरा, आगरा, कानपुर, इलाहाबाद, वाराणसी, मोहनिया, औरंगाबाद, बरही, बगोदर, गोविंदपुर, आसनसोल और पलसित से होकर कोलकाता में खत्म हो जाती है। यह दिल्ली-कोलकाता मार्ग है और एनएच-19 के समूचे मार्ग को जीटी रोड के बराबर रखा जा सकता है।

Date: 03-01-19

## ऋण माफी पर सही रुख

### संपादकीय

प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी ने नव वर्ष पर दिए अपने साक्षात्कार में कहा है कि कृषि ऋण माफी के बारे में फैसला लेने के लिए कोई भी राज्य सरकार स्वतंत्र है लेकिन उनकी अपनी सरकार का ध्यान किसानों को 'सशक्त' करने पर है। प्रधानमंत्री ने कहा है कि अतीत में भी कई बार किसानों के कर्ज माफ किए गए हैं लेकिन किसानों की कर्ज संबंधी समस्या अब भी बनी हुई है। प्रधानमंत्री के मुताबिक, इससे पता चलता है कि यह एक संरचनात्मक समस्या है और इसका समाधान होना अभी बाकी है। उनकी इस बात में भी सच्चाई है कि छोटे किसानों को इस तरह की कर्ज माफी से कोई फायदा नहीं होता है क्योंकि वे मुख्य रूप से साहूकारों से कर्ज लेते हैं। प्रधानमंत्री को इस बात का पूरा श्रेय दिया जाना चाहिए कि वह राष्ट्रीय स्तर पर कृषि ऋण माफी योजना लाने के लिए अपनी पार्टी के भीतर और विपक्ष से भी पड़ रहे लोक-लुभावन दबावों के आगे अडिग हैं। भारतीय जनता पार्टी के शासन वाले उत्तर प्रदेश समेत कई राज्यों की सरकारों ने कृषि ऋण माफी की है। तमिलनाडु जैसे कुछ राज्यों में सरकारों ने अपने कार्यकाल में यह कदम उठाया जबकि उत्तर प्रदेश और हाल ही में तीन राज्यों के विधानसभा चुनाव अभियान के दौरान किए गए वादे पूरे करने के लिए किसानों के कर्ज माफ किए गए। इस तरह मोदी पर दबाव बहुत है लेकिन ऐसी खतरनाक नीति के खिलाफ उनका डटकर खड़ा होना राहत की बात है। उनका इस प्रवृत्ति को एक राजनीतिक स्टैंट बताना सही ही है।

कृषि ऋण माफी योजनाएं भारत के कृषि क्षेत्र में व्याप्त व्यवस्थागत समस्याओं का समाधान नहीं हैं। वास्तव में, इसकी भी पूरी आशंका रहती है कि इससे हालात और बिगड़ जाएं। इन योजनाओं के साथ एक नैतिक संकट की भी समस्या रहती है। ऋण माफी से ऐसी व्यवस्था बन सकती है कि किसान अपनी जरूरत या क्षमता से ज्यादा कर्ज यह सोचकर ले लेते हैं कि कर्ज नहीं चुका पाने पर राजनीतिक दबाव में एक समय उनका बकाया कर्ज माफ हो जाएगा। ऐसा होने पर कृषि ऋण की समूची व्यवस्था ही खतरे में पड़ जाएगी। जब राज्य सरकारें ऋण माफी की वजह से बैंकों को हुई क्षति की समय पर भरपाई नहीं कर पाती हैं तो बैंक तनावग्रस्त हो जाते हैं और वे कर्ज देना बंद कर देते हैं। इसका नुकसान यह होता है कि कर्ज पर निर्भर किसान मुश्किल में पड़ जाते हैं। और, बैंकों को भुगतान करने पर राज्य सरकारों को यह पता चलता है कि उनके पास निवेश एवं पूंजी निर्माण जैसे दूसरे बुनियादी काम के लिए पैसे ही नहीं रह गए हैं। अगर वे किसी तरह इन मदों में व्यय करते हैं तो वे ऋण से जुड़ी तमाम समस्याओं के जाल में फंस जाते हैं। उनका राजकोषीय घाटा भी पिछले वित्त आयोग द्वारा निर्धारित सीमा को पार कर सकता है जो संघवाद के लिए एक संकट पैदा करता है।

इस तरह प्रधानमंत्री की यह दलील एकदम सही है कि कृषि ऋण माफी समस्या का समाधान नहीं है। मोदी के मुताबिक उनके कार्यकाल में सिंचाई सुविधाओं के विकास पर जितना खर्च किया गया है, उसी राशि को बड़े राजनीतिक लाभ के लिए किसान कर्ज माफी में भी इस्तेमाल किया जा सकता था। लेकिन यह खेती से जुड़ी असुरक्षा को दूर करने का सार्थक तरीका नहीं होता। वक्त का तकाजा है कि कृषि क्षेत्र से जुड़े लोगों की औसत आय बढ़े और खेती के लिए जरूरी वस्तुओं की लागत किफायती स्तर पर ही रहे। इस टिकाऊ समृद्धि को सुनिश्चित करने का एक तरीका गैर-कृषि क्षेत्र में ठोस रोजगार पैदा करना है जो कृषि क्षेत्र में लगे जरूरत से ज्यादा लोगों को खपा सकता है। सरकार का ध्यान इस पर होना चाहिए, न कि कृषि ऋण माफी के नाउम्मीद तरीके पर।

# नईदुनिया

Date: 03-01-19

## अफगानिस्तान से उभरती चिंताएं

अमेरिकी सैनिकों की वापसी के बाद अफगानिस्तान में तालिबान की वापसी होती है, तो भारत के लिए गुंजाइश घटेगी।

गुरजीत सिंह , (लेखक पूर्व राजदूत हैं)



हर नए साल के साथ यह उम्मीद भी परवान चढ़ती है कि यह साल बीते हुए वर्ष से बेहतर होगा। बीते साल अमेरिकी राष्ट्रपति ट्रंप का अप्रत्याशित रवैया कायम रहा, जिसमें उन्होंने सीरिया के अलावा अफगानिस्तान से अमेरिकी सेना की आंशिक वापसी का फैसला किया। भारत के लिहाज से अफगानिस्तान की स्थिति काफी चिंतित करने वाली है, क्योंकि उसकी चिंताओं पर न तो उसका सदाबहार दोस्त रूस और न ही नया-नवेला मित्र अमेरिका ध्यान दे रहा है। भले ही अभी भी साढ़े सात हजार से अधिक अमेरिकी सैनिक अफगानिस्तान में तैनात रहेंगे, लेकिन अमेरिका जिन हालात में यहां से कदम पीछे खींच रहा है, उससे कुछ अहम सवाल खड़े होते हैं। जब फौज वापस चली जाएगी और अमेरिकी भूमिका घट जाएगी तब क्षेत्रीय भू-राजनीति ही केंद्र में आ जाएगी, जिसमें नए खिलाड़ी उभरेंगे जो पुराने महा-मुकाबले के नए वारिस हैं। 19वीं सदी में कुछ अंग्रेज सैन्य और राजनीतिक अधिकारी इस मुकाबले के सूत्रधार थे। आर्थर कोनोली, ओलाफ कैरो और रुडयार्ड किपलिंग जैसे दिग्गजों ने इस ब्रिटिश दांव का समर्थन किया था। इसे जार शासित रूस की कुंठा का जवाब माना गया जो अफगानिस्तान और ब्रिटिश भारत में घुसपैठ के माध्यम से अरब सागर तक पहुंचना चाहता था। रूसियों को ब्रिटिश भारतीय प्रभाव और व्यापार मार्गों की ज्यादा परवाह थी जो अफगानिस्तान से मध्य एशिया तक जाते थे। ऐसे में अफगानिस्तान इस महा-मुकाबले के केंद्र में था।

आज अफगानिस्तान के साथ ही हिंद-प्रशांत क्षेत्र भी महा-मुकाबले का अखाड़ा बना हुआ है। इसमें ब्रिटिश भारत के उत्तराधिकारी भारत और पाकिस्तान के अलावा सोवियत संघ से अलग हुए मध्य एशियाई देश प्रमुख खिलाड़ी हैं। ईरान की भूमिका का भी विस्तार हुआ है, लेकिन इसमें सबसे अहम पहलू चीन का उभार है, जिसका 19वीं सदी में तिब्बत और शिनजियांग में ऐसा प्रभाव नहीं था कि वह इस मुकाबले का खिलाड़ी बन सके। 1979 में अफगानिस्तान में सोवियत संघ के हमले के बाद यहां हालात काफी बदले। मसलन अपने रणनीतिक हितों के प्रति पाकिस्तान की सक्रियता, चीन की बढ़ती पैठ और ईरान के अलावा मध्य एशियाई देशों के आग्रह। आज भले ही भारत की भौगोलिक सीमा अफगानिस्तान से न लगती हो, किंतु अफगानिस्तान के विकास में उसका अहम योगदान बना हुआ है। लिहाजा विभाजन के बाद भारत भी इस नए महा-मुकाबले का खिलाड़ी बन गया है, क्योंकि अफगानिस्तान में पाक व चीन का प्रभाव उसके लिए चिंता का सबब है जिसके लिए सक्षम कूटनीति की दरकार है।

मूल महा-मुकाबले की ही भांति इसके नए संस्करण में भी अरब सागर और दक्षिण हिंद महासागर तक पहुंच बनाने की लड़ाई ही अहम मसला है। अब इसका स्वरूप बदला है, जिसमें अवसर भुनाने की तैयारी भी हो गई है। भारत जिस चीन-पाकिस्तान आर्थिक गलियारे का विरोध कर रहा है, वह चीन के शिनजियांग प्रांत को पाकिस्तान में ग्वादर बंदरगाह के जरिए अरब सागर से जोड़ता है। इसी तरह भारत भी चाबहार बंदरगाह पर दांव लगाने के साथ ही नॉर्थ साउथ ट्रांसपोर्ट कॉरिडोर विकसित कर रहा है जो ईरान को अफगानिस्तान के रास्ते मध्य एशिया तक जोड़ता है। इससे चारों ओर स्थलीय सीमा से घिरे मध्य एशियाई देशों के लिए ईरानी बंदरगाहों के उपयोग से नए अवसरों की राह खुलेगी। भारत ने अफगानिस्तान में जिस शानदार बुनियादी ढांचे का विकास किया, उसकी सफलगाथा की चर्चा कम ही हुई है। नॉर्थ साउथ कॉरिडोर को अफगानिस्तान में शांति और स्थायित्व की दरकार है। इसमें भारत के अपने हित भी हैं और यही वजह है कि वहां अमेरिकी मौजूदगी अभी भी अहम है। अगर वहां तालिबान सरकार की वापसी होती है तो भारत के लिए गुंजाइश कम होगी और बुनियादी ढांचे का काम भी प्रभावित होगा। चीन और पाकिस्तान के हित में यही है कि वे अपने रणनीतिक हितों की पूर्ति के लिए तालिबान को सत्ता में लाएं और भारतीय प्रभाव को घटाएं, क्योंकि इस महा-मुकाबले में भारत ही तालिबान का सबसे मुखर विरोधी है। रूस इस मामले में चीन की राह चल रहा है, मगर यूरोप को लेकर वह अपनी पहली में उलझा हुआ है। ईरान जरूर एक सक्रिय खिलाड़ी है, लेकिन अमेरिकी प्रतिबंधों ने उसके भी हाथ बांध दिए हैं। इससे उसके लिए चाबहार की अहमियत काफी बढ़ गई है, लेकिन विदेशी मुद्रा के संकट से निपटने के लिए उसे भारत जैसे सहयोगियों की जरूरत होगी जो उसके बंदरगाह और कॉरिडोर के संचालन में अपनी भूमिका को और प्रभावी बना सकें।

नए महा-मुकाबले में अरब सागर और दक्षिण हिंद महासागर प्रतिद्वंद्विता के नए बिंदु बनकर उभरे हैं। जहां चाबहार और ग्वादर जैसे बंदरगाह एक ही समुद्र से जुड़े हैं वहीं हिंद महासागर में स्थित श्रीलंका, मालदीव, सेशेल्स और मॉरीशस जैसे द्वीपों में चीन की आर्थिक और सैन्य पकड़ मजबूत होती जा रही है। दक्षिण हिंद महासागर में मुख्य जिम्मेदारी भारत की ही है, क्योंकि जिबूती में जापानी बेस के बावजूद अमेरिका, जापान और ऑस्ट्रेलिया की इस क्षेत्र में अपेक्षित मौजूदगी नहीं है। चीन यहां अपनी नौसैनिक क्षमताएं बढ़ा रहा है। ऐसी सामरिक गतिविधि को देखते हुए भारत को सतर्क रहने की जरूरत है। मालदीव और कुछ हद तक श्रीलंका के हालिया घटनाक्रम भारत के लिए बेहतर संकेत हैं, लेकिन उसे आर्थिक सहयोग, अधोसंरचना विकास और नौसैनिक मोर्चे पर सक्रियता निरंतर रूप से बढ़ानी होगी।

पश्चिमी दुनिया में भले ही वैश्वीकरण खतरे में हो, लेकिन इस महा-मुकाबले और हिंद-प्रशांत क्षेत्र के घटनाक्रम स्पष्ट रूप से दर्शाते हैं कि एक क्षेत्रीय रणनीति वैश्विक सहभागिता के रूप में उभर रही है। इसलिए इसमें अब खिलाड़ी भी बढ़ गए हैं और शक्ति का संतुलन भी नई करवट ले रहा है। लिहाजा खेल के नियम भी बदल रहे हैं और उसका दायरा भी फैल रहा है। इस बीच एक और नया ढांचा भी सामने आ रहा है और देरसबेर महा-मुकाबले से भी इसका साबका होगा। यह ढांचा है शंघाई सहयोग संगठन यानी एससीओ का। वर्ष 2000-03 के दौरान इसकी स्थापना छह सदस्यों के साथ हुई थी। इसमें मुख्य रूप से रूस और चीन की मध्य एशियाई देशों से सहभागिता में समन्वय करना था। भारत और पाकिस्तान को इसका सदस्य बनाने के साथ ही ईरान, अफगानिस्तान, बेलारूस और मंगोलिया को पर्यवेक्षक का दर्जा दिया गया है। श्रीलंका और तुर्की को संवाद साझेदार बनाया गया है। इस संगठन का काम क्षेत्र में शांति और स्थायित्व के लिए काम करना है। इसमें जहां भारत के तमाम हितैषी हैं, वहीं अधिकांश देश ऐसे हैं जो चीन के निशाने पर नहीं आना चाहते। वास्तव में मूल महा-मुकाबले का कोई ढांचा नहीं था, लेकिन इसका है। साथ ही यह भारत के समक्ष सीमाओं को भी दर्शाता है तो उभरती शक्ति के रूप में भारत को मान्यता भी देता है, जो किसी का पिछलग्गू बनकर नहीं रह सकता।



## अपराध बदल रहे हैं, पुलिस नहीं

विभूति नारायण राय, (पूर्व आईपीएस अधिकार)

एक महीने में उत्तर प्रदेश जैसे बड़े राज्य में दो पुलिसकर्मियों की भीड़ द्वारा पीट-पीटकर हत्या भारतीय समाज में बढ़ रही हिंसा की प्रवृत्ति का द्योतक तो है ही, इसके पीछे कहीं न कहीं तंत्र की वह विफलता भी छिपी है, जो आधुनिक जरूरतों पर खरा उतरने में समर्थ पुलिस बल नहीं गढ़ पा रही। 20 से 25 वर्ष की आयु में समाज के विभिन्न तबकों से आने वाले युवक और युवतियां पुलिस बलों में अलग-अलग पदों पर भर्ती होते हैं और एक निश्चित प्रविधि के तहत उन्हें खाकी बनाया जाता है। यह प्रविधि, जिसे प्रशिक्षण कहा जाता है, ठोक-पीटकर इन्हें काफी हद तक एक सांचे में ढाल देती है। मगर क्या यह प्रक्रिया उन्हें आज के जटिल सामाजिक यथार्थ का सामना करने के काबिल बना पा रही है ?

पुलिस तंत्र में सबसे अधिक उपेक्षित वह गतिविधि है, जिसे सर्वाधिक महत्व मिलना चाहिए। एक सैनिक कहावत है कि प्रशिक्षण में जितना अधिक पसीना बहता है, युद्ध में उतना ही कम खून बहाना पड़ता है। रोजमर्रा की गतिविधि में पुलिस को इतनी भिन्न परिस्थितियों से जूझना पड़ता है कि किसी तरह की इकहरी सिखलाई हमेशा उसके काम नहीं आ सकती। दुर्भाग्य से एक पुलिसकर्मी, जो बुनियादी ट्रेनिंग सेंटर में औसतन नौ महीने से साल-डेढ़ साल का प्रशिक्षण पाता है, अपने शेष तीन-चार दशकों के सेवाकाल में अपवाद स्वरूप ही किसी अन्य प्रशिक्षण का हिस्सा बनता है। दुनिया भर के पेशेवर पुलिस बल ऐसी व्यवस्था करते हैं कि उनके सदस्य पांच वर्ष में कम से कम एक प्रशिक्षण कार्यक्रम से जरूर गुजरें। जितनी तेजी से अपराध और अपराधी का प्रोफाइल बदल रहा है और जिस तरह से विधि तथा विधि चिकित्सा शास्त्र में नित नए विकास हो रहे हैं, उन्हें समझने के लिए जरूरी है कि पुलिसकर्मियों के निरंतर प्रशिक्षण की व्यवस्था की जाए। यह तभी संभव है, जब उन्हें पांच वर्षों में कम से कम एक बार तो अपनी इयूटी स्थल से हटाकर किसी प्रशिक्षण केंद्र में ले जाया जाए और शेष समय कार्यस्थल पर ही ट्रेनिंग की व्यवस्था की जाए।

भारत में आज भी पुलिस प्रशिक्षण विद्यालयों या अकादमियों का जोर सैन्य प्रशिक्षण पर अधिक है। अभी भी ऐसी समझ नहीं बन सकी है, मुख्य रूप से शारीरिक कवायदों या हथियारों से जुड़ी सिखलाई वाले पाठ्यक्रम आधुनिक जरूरतों के मुताबिक पुलिसकर्मी नहीं गढ़ सकते। 1860-61 के कानूनों पर बनी पुलिस और उसे प्रशिक्षित करने के लिए विकसित पाठ्यक्रम ने वर्षों तक उन अपेक्षाओं को पूरा किया, जिनके लिए उन्हें बनाया गया था। दशकों पहले एक प्रशिक्षु अधिकारी की हैसियत से सुने ट्रेनिंग के लिए कहे गए किसी वरिष्ठ अधिकारी का यह कथन मुझे बड़ा अर्थवान लगा कि इट कंडीशन्स योर फिजिक ऐंड डिसिप्लिन्स योर विल अर्थात् प्रशिक्षण आपके शरीर को योग्य बनाता है और इच्छाशक्ति को अनुशासित करता है। ये दोनों जरूरतें एक औपनिवेशिक साम्राज्य को बनाए रखने के लिए जरूरी थीं और इन्हें ध्यान में रखकर पाठ्यक्रम विकसित किए गए थे। पर क्या आज भी ये प्रासंगिक हैं? क्या इन पाठ्यक्रमों में ऐसी चीजों का समावेश नहीं होना चाहिए, जो पुलिस को जनता का मित्र और एक लोकतांत्रिक समाज की जरूरतों के अनुकूल बनने में मदद कर सके?

आज भी पुलिस का थर्ड डिग्री पर पुख्ता यकीन क्या इस बात का प्रमाण नहीं है कि उसके प्रशिक्षण में कोई बुनियादी खामी है? प्रशिक्षण पाठ्यक्रम अभी भी अपराध के बदलते प्रोफाइल का मुकाबला करने में असहाय दिखते हैं। खासतौर से बैंकिंग धोखाधड़ी या साइबर अपराध से निपटते समय पुलिस अधिकारियों की अक्षमता साफ महसूस की जा सकती है। यह किसी व्यक्ति की असफलता नहीं, प्रशिक्षण तंत्र की असफलता है, जो उन्हें इन जटिल अपराधों से निपटने के लिए तैयार ही नहीं करता।

साल भर की बेसिक ट्रेनिंग में ही किसी पुलिसकर्मी को भविष्य की सारी चुनौतियों से निपटने के लिए तैयार नहीं किया जा सकता। उसे सेवाकाल के थोड़े-थोड़े अंतराल में कम या लंबी अवधि के प्रशिक्षण कार्यक्रमों से गुजारने की जरूरत है। यही नहीं होता। किसी तरह के प्रोत्साहन के अभाव में आम तौर से प्रशिक्षण में नामांकन सजा की तरह लिया जाता है। प्रशिक्षण केंद्रों में प्रशिक्षक के रूप में नियुक्ति भी अधिकतर अधिकारियों के लिए सजा जैसी है। नतीजतन ऐसी स्थिति बनती है, जिसमें प्रशिक्षक और प्रशिक्षु, दोनों प्रशिक्षण को एक उबाऊ दंड के रूप में लेते हैं। प्रशिक्षण पाठ्यक्रमों में समय-समय पर परिवर्तन हुए जरूर हैं, मगर आधे-अधूरे मन से किए जाने के कारण ये समय के साथ चलने में सक्षम नहीं हैं।

प्रशिक्षण केंद्रों के बाहर भी एक औसत पुलिसकर्मी की सिखलाई की प्रक्रिया चलती रहनी चाहिए। सेना में यह परंपरा है, जिसमें शांति काल में जवानों को ऑन द जॉब ट्रेनिंग दी जाती है। पुलिस में कई कारणों से ऐसा नहीं हो पाता। सबसे बड़ा कारण तो सेवाकाल की अनिश्चितता है।

ऑन द जॉब ट्रेनिंग का प्रबंध मुख्य रूप से तीन स्तरों पर हो सकता है- थानाध्यक्ष, जिला पुलिस अधीक्षक और पुलिस महानिदेशक। ये तीनों अपनी पहल पर विभिन्न पदों के पुलिसकर्मियों के लिए प्रशिक्षण कार्यक्रम चला सकते हैं, पर इनमें से किसी को नहीं पता होता कि वह कब तक वर्तमान पद पर रहेगा? उसकी चिंता के क्षेत्रों में मातहतों की ट्रेनिंग की वरीयता सबसे आखिरी होती है। आर्थिक और साइबर अपराधों को क्लास रूम की बंद दीवारों से बाहर अपराध की वास्तविक दुनिया में ज्यादा बेहतर ढंग से समझा जा सकता है। यह तभी संभव है, जब वरिष्ठ अधिकारी अपने मातहतों को सीखने के लिए प्रेरित करें और उनके कार्यस्थल पर ही इसके लिए माहौल पैदा करें। बुलंदशहर, गाजीपुर या मथुरा जैसी घटनाएं न हों, इसके लिए जरूरी है कि भीड़ के मनोविज्ञान को समझने और कम से कम बल का प्रयोग करने के लिए प्रोत्साहित करने वाले प्रशिक्षण कार्यक्रम निरंतर चलाए जाएं।

---